॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

अक्ष्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम खण्ड

नेत्ररोगहरी विद्या

कथा है कि एक समय भगवान् साङ्कृति आदित्यलोकको पधारे। वहाँ सूर्यनारायणको प्रणाम करके उन्होंने चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा उनकी स्तुति की। ॐ चक्षु-इन्द्रियके प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ आकाशमें विचरण करनेवाले सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ महासेन (सहस्रों किरणोंकी भारी सेना साथ रखनेवाले) श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ तमोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ रजोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ सत्त्वगुणके रूपमें भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ हे भगवन्! मुझे असत्‌से सत्‌की ओर ले चलिये; मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये; मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये। भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं और वे अप्रतिरूप भी हैं—उनके रूपकी कहीं भी तुलना नहीं है। जो अखिल रूपोंको धारण कर रहे हैं तथा रश्मिमालाओंसे मण्डित हैं, उन जातवेदा (सर्वज्ञ) स्वर्णसदृश प्रकाशवाले ज्योतिःस्वरूप और तपनेवाले भगवान् भास्करको हम स्मरण करते हैं। ये सहस्रों किरणोंवाले और शत-शत प्रकारसे वर्तमान भगवान् सूर्यनारायण समस्त प्राणियोंके समक्ष उदित हो रहे हैं। जो हमारे नेत्रोंके प्रकाश हैं, उन अदितिनन्दन भगवान् श्रीसूर्यको नमस्कार है। दिनका भार वहन करनेवाले विश्ववाहक सूर्यदेवके प्रति हमारा सब कुछ सादर समर्पित है। इस प्रकार चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा स्तुति किये जानेपर भगवान् सूर्यनारायण अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको आँखका रोग नहीं होता; उसके कुलमें अंधे नहीं होते। आठ ब्राह्मणोंको इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है। जो इस प्रकार जानता है, वह महान् हो जाता है॥ १॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मविद्याका उपदेश

तदनन्तर साङ्कृति मुनिने सूर्यनारायणसे कहा, 'भगवन्! मेरे लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' उनसे भगवान् आदित्य बोले—'साङ्कृति! सुनो; तुमसे अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके विज्ञानमात्रसे तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। सबको एक, अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वतः चैतन्यरूप देखते हुए तुम शान्ति और सुखसे रहो। असंवेदन अर्थात् आत्मा अथवा परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका भान न हो—ऐसी स्थितिको ही योग मानते हैं; यही वास्तविक चित्तक्षय है। अतएव योगस्थ होकर कर्मोंको करो; नीरस अर्थात् विरक्त होकर कर्म मत करो। अब असंवेदनरूपी योगकी प्रथम भूमिका बतलाते हैं—

योगमें प्रवृत्त होनेपर अन्तःकरण प्रतिदिन वासनाओंसे विरक्त होता जाता है और नित्यप्रति उदार कर्मोंमें संलग्न होता और उन्हींमें प्रसन्नताका अनुभव करता है। मूर्ख मनुष्योंकी ग्राम्य-चेष्टाओं (अश्लील विषयभोगकी प्रवृत्तियों)-से वह सदा घृणा करता है। किसीकी छिपी हुई मार्मिक बातोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं करता। परंतु सदा पुण्यकर्मोंका ही सेवन करता रहता है और जिनके द्वारा किसी प्राणीको उद्वेग न हो, ऐसे मृदु (दया और उदारतासे पूर्ण) सौम्य कर्मोंका सेवन करता है। निरन्तर पापसे डरता है और भोगकी आकाङ्क्षा नहीं करता। वह ऐसे वचन बोलता है, जिनमें स्नेह और प्रेम भरा हो, मृदुल और उचित हों तथा देश-कालके अनुकूल हों। मन, वचन और कर्मसे वह सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करता है और जहाँ कहींसे भी संग्रह करके नित्य सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन करता है। ऐसी स्थिति आनेपर वह प्रथम भूमिकाको प्राप्त होता है। संसार-सागरको पार करनेके लिये जो इस प्रकारके विचारोंमें संलग्न रहता है, वह भूमिकावान् कहलाता है और दूसरे 'आर्य' कहलाते हैं। जो योगकी विचार नामकी दूसरी भूमिकाको प्राप्त होता है, उसके लक्षण ये हैं— ॥ १—१० ॥

वह ऐसे श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानकी उत्तम व्याख्या करनेके कारण अधिक विख्यात हों। वह पद और पदार्थोंके विभागको ठीक-ठीक जानता है और श्रवण करनेयोग्य शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयको ठीक उसी प्रकार जानता है, जैसे घरका स्वामी घरके पदार्थोंको जानता है। मद, अभिमान, मत्सरता (डाह), लोभ और मोहकी अधिकता उसके मनमें रहती नहीं; किंतु बाह्य आचरणमें भी जो थोड़ी-बहुत इन दोषोंकी स्थिति देखी जाती है, उसको भी वह उसी भाँति त्याग देता है, जैसे साँप केंचुलको। ऐसी बुद्धिवाला साधक शास्त्र, गुरु और संतजनोंकी सेवाके द्वारा रहस्यपूर्वक सारी बातोंको यथावत् जान लेता है ॥ ११—१४ ॥

इसके बाद वह असंसर्गा नामकी तीसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है—ठीक वैसे ही, जैसे एक सुन्दर पुरुष स्वच्छ पुष्प-शय्यापर आरूढ़ होता है। शास्त्रोंके वाक्य जिस अर्थको प्रकट करते हैं, उसमें विधिपूर्वक अपनी निश्चल बुद्धिको लगाकर (शास्त्रोंके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा रखकर), तपस्वियोंके आश्रममें रहकर तथा अध्यात्मशास्त्रकी चर्चा करते हुए वह पत्थरकी शय्यापर आसीन होकर अपनी विस्तृत आयु व्यतीत करता है। वह नीतिज्ञ पुरुष चित्तको शान्ति प्रदान करनेके कारण अधिक भानेवाले वनभूमि-विहार (वनके स्थानोंमें भ्रमण)-द्वारा विषयोंमें अनासक्त हो स्वाभाविक सुख-सौख्यका उपभोग करता हुआ अपना समय बिताता है। सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे जीवकी यह यथार्थ वस्तुदृष्टि निर्मल होती है। इस तृतीय भूमिकाको प्राप्त करके वह स्वयं बुद्ध (ज्ञानी) होकर अनुभव करता है ॥ १५—१९ ॥

असंसर्ग दो प्रकारका होता है, उसके इस भेदको सुनो। यह असंसर्ग सामान्य और श्रेष्ठ—दो प्रकारका है। मैं न तो कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, न बाध्य हूँ और न बाधक ही हूँ—इस प्रकार विषयोंमें आसक्त न होनेका भाव ही सामान्य असंसर्ग कहलाता है। सब कुछ पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके फल-रूपमें उपस्थित है, अथवा सब कुछ ईश्वराधीन है; अतएव सुख हो या दुःख, इसमें मेरा कर्तृत्व ही क्या है; भोगोंका विस्तार (अधिक संग्रह) महारोग है; सब प्रकारकी सम्पदाएँ परम आपदाएँ हैं। सारे संयोग एक दिन वियोगके लिये ही हैं; आधियाँ (मानसिक चिन्ताएँ) अज्ञानियोंके लिये व्याधिरूप हैं। समस्त पदार्थोंको काल निरन्तर अपना ग्रास बनानेमें लगा है, अतएव सारे पदार्थ अस्थायी हैं;—इस प्रकार शास्त्रोंके वचनोंको समझनेसे सर्वत्र अनास्था हो जानेके कारण जो मनमें उनके अभावकी भावना होती है, उसे सामान्य असंसर्ग कहते हैं। इस प्रकार क्रमशः महात्माओंके सत्सङ्गसे 'मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर कर्ता है अथवा मेरे पुराकृत कर्म ही कर्ता हैं; ऐसा निश्चय करके सब प्रकारकी चिन्ताओं तथा शब्द-अर्थकी भावनाको भी अत्यन्त दूर कर देनेके पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियोंका पूर्ण संयम), आसन (आन्तरिक स्थिति) और शान्तभाव (बाह्य भावोंका विस्मरण) हो जाता है—वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहलाता है' ॥ २०—२६ ॥

संतोष और आनन्दमयी होनेसे मधुर प्रतीत होनेवाली पहली भूमिका इस प्रकार उदय होती है; मानो वह अन्तःकरणकी भूमिमें उगा हुआ अमृतका छोटा-

सा अंकुर हो। इस भूमिकाके उदित होनेके पश्चात् अन्त:करणमें अन्य भूमिकाओंके प्रकट होनेके लिये एक भूमि (क्षेत्र) हो जाती है। उसके बाद साधक क्रमश: द्वितीय और तृतीय भूमिकाओंको भी प्राप्त कर लेता है। इनमें यह तीसरी भूमिका ही सर्वश्रेष्ठ होती है; क्योंकि इसमें पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्पात्मक वृत्तियोंका त्याग कर देता है। इन तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे अज्ञानके क्षीण होनेपर चतुर्थी भूमिकाको प्राप्त हुए साधक सर्वत्र समभावसे देखते हैं। उस समय अद्वैतभाव दृढ़ होकर द्वैतभावकी शान्ति हो जाती है; इससे चौथी भूमिकापर पहुँचे हुए साधक इस लोकको स्वप्नवत् देखते हैं। पहली तीनों भूमिकाएँ जाग्रत्-स्वरूपा हैं तथा यह चौथी भूमिका स्वप्न कहलाती है॥ २७—३२॥

पाँचवीं भूमिकाको प्राप्त होनेपर साधकका चित्त शरत्कालके मेघखण्डोंके समान आकाशमें विलीन हो जाता है और केवल सत्त्वमात्र अवशिष्ट रहता है। इसमें चित्तके विलीन हो जानेके कारण सांसारिक विकल्पोंका उदय ही नहीं होता। सुषुप्तपद नामकी इस पाँचवीं भूमिकाके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण विशेषांश (भेद) शान्त हो जाते हैं और साधक केवल (निर्विशेष) अद्वैत स्थितिमें आ जाता है। द्वैतका आभास नष्ट हो जाता है और आत्मज्ञानसे सम्पन्न प्रसन्न साधक पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर सुषुप्तघन (आनन्दमयी) स्थितिमें ही रहता है। वह बाहरके व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख ही रहता है और सदा परिश्रान्त होकर निद्रा लेनेवालेके समान दिखलायी देता है। इस भूमिकामें अभ्यास करता हुआ वह वासना-रहित होकर क्रमश: तुर्या नामकी छठी भूमिकामें पदार्पण करता है। जहाँ न सत् है न असत् है; न अहङ्कार है न अनहङ्कार है, उस विशुद्ध अद्वैतावस्थामें वह अत्यन्त निर्भय होकर मननात्मक वृत्तिसे रहित हो जाता है। उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संदेह शान्त हो जाते हैं; वह जीवन्मुक्त होकर भावनाशून्य हो जाता है और निर्वाणको न प्राप्त होनेपर भी निर्वाणको प्राप्त हुआ-सा हो जाता है। उस समय वह चित्रलिखित दीपककी भाँति निश्चेष्ट रहता है। इस छठी भूमिकामें स्थित होनेके पश्चात् वह सातवीं भूमिकाको प्राप्त होता है॥ ३३—४०॥

विदेहमुक्तिकी अवस्था ही सातवीं भूमिका बतायी गयी है। यह भूमिका परम शान्त एवं वाणीके द्वारा अगम्य है। यही सब भूमिकाओंकी अन्तिम सीमा है, यहाँ योगकी सारी भूमिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। लोकाचारका अनुगमन करना छोड़कर, देहाचारका अनुसरण छोड़कर तथा शास्त्रानुगमनको त्यागकर अपने अध्यासको दूर करो। विश्व, प्राज्ञ और तैजस आदिरूप समस्त जगत् 'ॐकार' मात्र है; क्योंकि वाच्य और वाचकमें भेद नहीं होता (ॐकार वाचक है और परमात्मरूप सम्पूर्ण विश्व वाच्य है)। भेदसे इसकी उपलब्धि नहीं होती। प्रणवकी पहली मात्रा अकार ही 'विश्व' है, उकार 'तैजस' है और मकार 'प्राज्ञ' स्वरूप है—ऐसा क्रमश: अनुभव करे। समाधिकालसे पूर्व ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करके स्थूल और सूक्ष्मके क्रमसे सबको चिदात्मामें विलीन कर दे। चिदात्माको अपना स्वरूप समझे। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तामात्र, अद्वय परमानन्द-संदोहमय एवं वासुदेवस्वरूप ॐकार हूँ—ऐसी दृढ़ भावना करे। क्योंकि यह सारा प्रपञ्च आदि, मध्य और अन्तमें केवल दु:खमय ही है, अतएव हे अनघ! सबको छोड़कर तत्त्वनिष्ठ बनो। मैं अविद्यारूपी अन्धकारसे परे, सब प्रकारके आभाससे रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध, मन और वाणीकी पहुँचके परे, प्रज्ञानघन और आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। यह उपनिषद् है॥ ४१—४९॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय अक्ष्युपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्ति:! शान्ति:!! शान्ति:!!!